



ISSN Print: 2394-7500
 ISSN Online: 2394-5869
 Impact Factor: 5.2
 IJAR 2018; 4(1): 421-423
 www.allresearchjournal.com
 Received: 15-11-2017
 Accepted: 14-12-2017

डॉ० राम बालक राय
 पूर्व शोधार्थी, विश्वविद्यालय
 हिन्दी-विभाग, ल.ना.मि.वि.,
 दरभंगा, बिहार, भारत

बौद्धों की श्रमण संस्कृति एवं हिन्दी साहित्य : एक समीक्षा

डॉ० राम बालक राय

सारांश-

श्रमण परम्परा भारत में प्राचीन काल से जैन, आजीविक, चार्वाक एवं बौद्ध दर्शनों में पायी जाती है। ये वैदिक धारा से बाहर मानी जाती है एवं इसे प्रायः नास्तिक दर्शन भी कहते हैं। भिक्षु या साधु को श्रमण कहते हैं, जो सर्वविरत कहलाता है।

हिन्दी-साहित्य में बौद्ध-काव्य की सर्जना अपेक्षाकृत कम हुई है लेकिन जितनी भी हुई है, उसमें भगवान् बुद्ध की चारित्रिक उदात्तता और उनका अहिंसक स्वरूप शत-प्रतिशत सुरक्षित है। भगवान् बुद्ध मानवता के रक्षक थे एवं संसार के मानवों को दुःखी देखकर इतने करुणाद्रुत हुए थे कि उन्होंने अपनी एकमात्र पत्नी यशोधरा और एक मात्र नवजात पुत्र राहुल को भी छोड़कर विश्व-कल्याण के लिए तपस्या का मार्ग स्वीकार किया था।

प्रस्तावना:

वैदिक धर्म में व्याप्त हिंसा, कर्मकाण्डों की जटिलता, भेदभाव और कुरीतियों की प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध धर्म का उदय समाज-सुधार की परिकल्पना और सामान्य जनता को सन्मार्ग दिखाने की नीयत से हुआ। गौतम बुद्ध के निर्वाण के लगभग 45 वर्षों तक बौद्धधर्म का विस्तार द्रुत गति से होता रहा। भारत के साथ ही विदेशों तक इसका विस्तार हुआ। गौतम बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म हीनयान और महायान शाखा में विभक्त हो गया। हीनयान शाखा के साधकों की साधनापद्धति आत्मा के दमन और आत्मा के निर्वाण की विचारधारा पर चलते हुए व्यक्तिवादी हो गई। जबकि महायान शाखा के साधकों ने जगत् कल्याण को अपनाया। महायान शाखा में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का और पूजा-अर्चन का प्राधान्य था, इस कारण जनता की आस्तिक विचारधारा के साथ अपना तालमेल बैठाते हुए महायान शाखा का अपेक्षाकृत अधिक विस्तार हुआ।^[1]

महायान शाखा से ही कालांतर में वज्रयान, मंत्रयान, सहजयान आदि का उदय हुआ। बौद्ध धर्म की इन शाखा-प्रशाखाओं में तंत्रमत का प्राधान्य था। इनमें से वज्रयान तत्त्व को अधिक प्रसिद्धि मिली। उत्तरी भारत में अपने प्रभाव का विस्तार करते हुए वज्रयान भारत से बाहर जाकर भी विस्तृत हुआ। बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व की प्रसिद्धि के कारण वैदिक धर्म में जन्मे नए मत-मतांतरों में भी इसका प्रभाव परिलक्षित होने लगा।^[2]

वैदिक धर्म की पंचदेवोपासना- गणपति संप्रदाय, सूर्य संप्रदाय, शक्ति संप्रदाय, शैव संप्रदाय और वैष्णव संप्रदाय में से अंतिम तीन संप्रदायों का पर्याप्त विकास हुआ। इन संप्रदायों में महायान का भक्ति तत्त्व वज्रयान के प्रभाव से तंत्रवाद का प्रभाव लेकर नए रूप में विकसित हुआ। वैष्णव धर्म की भक्ति-भावना महायानियों के भक्ति तत्त्व से ही अनुप्राणित है। शैवों की मठवादी प्रवृत्ति को महायानियों की मठवाद की प्रवृत्ति से ही बल मिला था। वैष्णवों की रथ-यात्रा बौद्धों के ही एक उत्सव का रूपांतर है। पुरी के जगन्नाथजी बुद्ध का ही वैष्णवीकृत रूप हैं। सारनाथ के समीप में एक संघेश्वर महादेव स्थित हैं। संघेश्वर शब्द इस बात को प्रमाणित करता है कि यह मूर्ति बुद्ध का ही शिवीकृत रूप है।^[3]

बौद्ध विचारधारा और तत्त्वों के वैष्णवीकरण और शिवीकरण की यह प्रक्रिया संतों के समय तक चलती रही।^[4] इस प्रकार बौद्ध धर्म का वज्रयान तत्त्व और वैदिक धर्म के शैव, शाक्त एवं वैष्णव मत आपस में मिलजुल कर एक नए आंदोलन जैसा रूप लेने लगे थे। इसका प्रमुख कारण यह भी था कि तत्कालीन भारत की केंद्रीकृत सत्ता बिखर चुकी थी। छोटे-छोटे राजे-रजवाड़े अपनी सीमाओं के विस्तार में या अपनी रक्षा में ही इतने व्यस्त हो चुके थे कि जनता के दुःख-दर्द को समझना और सार्थक हल दे पाना उनके वश की बात नहीं रह गई थी।

दूसरी तरफ विदेशी आक्रांताओं के साथ ही दूसरे धर्म का आगमन भी ऐसे आंदोलन की उत्पत्ति का कारण बन चुका था। इन स्थितियों में सामान्य निरीह जनता के सामने एक ही रास्ता था और वह था, धर्म सत्ता में अपनी स्थिति को तलाशना।

Corresponding Author:

डॉ० राम बालक राय
 पूर्व शोधार्थी, विश्वविद्यालय
 हिन्दी-विभाग, ल.ना.मि.वि.,
 दरभंगा, बिहार, भारत

जनता को बिखराव से बचाने और मत-विभेद जैसी स्थितियों के कारण संभावित टकरावों को रोकने के लिए भी आपसी समन्वय की आवश्यकता थी। धर्म के इस नवोदित भक्ति आंदोलन की यही प्रमुख विशेषता भी थी। इस विशिष्टता को ख्यापित करते हुए आचार्य परशुराम चतुर्वेदी हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखते हैं कि 'साधनमाला' में वर्णित बौद्ध देवता पद्मनृत्येश्वर भी शिव का रूपांतर ही जान पड़ता है।

इसी प्रकार उड़ीसा के पंचसखाओं का शून्यपुरुष ब्राह्मण-श्रमण-संस्कृतियों के मिलन की ओर संकेत करता है। मध्य प्रदेश के नाग राजाओं द्वारा अवलोकितेश्वर की पूजा शिव-पूजन की भाँति हुआ करती थी। एलोरा के समीपस्थ वेरुल के कैलास मंदिर में शिव की मूर्ति के शीर्ष स्थान पर बोधि वृक्ष स्थित है। चंबा-नरेश अजयपाल के राज्य-काल में उत्कीर्ण ब्रह्म, वरुण और शिव के साथ बुद्ध भी हैं। खजुराहो से उपलब्ध कोवकल के वैद्यनाथ मंदिर वाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार हरिहर पूजन में भी शैव-वैष्णव धारा का संगम लक्षित होता है। संक्षेप में, ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनसे समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। भक्ति-आंदोलन का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ था।^[5] भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय सिद्ध-नाथ पंथियों को जाता है।

वस्तुतः बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व, तंत्रवाद और इसके प्रभाव के फलस्वरूप शैव-शाक्त एवं वैष्णव मतों में पनपे तंत्रवाद ने आपस में घुल-मिलकर सिद्ध-नाथ पंथ को जन्म दिया। सिद्धों ने इस तंत्रवाद के माध्यम से सामान्य-निरीह जनता को भक्ति और सन्मार्ग का रास्ता दिखाने के उद्देश्य से जनभाषा में साहित्य रचना की। सिद्धों की वाममार्गी साधनापद्धति का परिष्कृत और परिवर्द्धित स्वरूप नाथ पंथ में मुखर हुआ। नाथ पंथ के प्रमुख संत गोरखनाथ और मछिंदरनाथ की गिनती सिद्धों में भी होती है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्ध पंथ से ही कालांतर में नाथ पंथ का उदय हुआ होगा। सिद्धों की संख्या कितनी थी और इनका प्रमुख केंद्र कहाँ था, इस संदर्भ में विभिन्न मत और विचार हैं। प्रायः ऐसा माना जाता है कि चौरासी सिद्ध हुए हैं और ये प्रायः संपूर्ण राष्ट्र में अलग-अलग स्थानों पर रहे हैं।

हिमालय के तराई क्षेत्रों से लेकर संपूर्ण हिमालय परिक्षेत्र में इनका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक व्यापक था। इस क्षेत्र में इनका प्रभाव बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व के विस्तार में योगदान दे रहा था। इस कारण हिमालय परिक्षेत्र में बौद्ध गुरुओं के रूप में कई सिद्धों का अस्तित्व आज भी विद्यमान है। इनकी रचनाएँ भी भोट भाषा में बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्मग्रंथों, स्तुतियों आदि में प्राप्त होती हैं। सिद्धों का अस्तित्व न केवल भारतीय हिमालयी क्षेत्र में वरन् तिब्बत के पठारी क्षेत्र में भी फैला हुआ था।

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् अल्ब्रेट बेवर, जो भारतीय संस्कृत साहित्य, धर्म और धर्मशास्त्रों के ख्यातिलब्ध विद्वान माने जाते हैं, उनकी पुस्तक 'द हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर' के उपलब्ध हिंदी अनुवाद में यद्यपि बौद्ध-साहित्य और धर्म के साथ सिद्धों के सीधे संबंध का वर्णन नहीं किया गया है, तथापि इस बात का उल्लेख अवश्य किया गया है कि बौद्ध धर्म के विस्तार, उसकी शाखा-प्रशाखाओं के विस्तार के साथ ही व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने हेतु अवस्था या योग्यता के आधार पर पद विभाजन, कार्य विभाजन किया जाने लगा।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में पौरोहित्याधिपत्य का क्रमिक विकास हुआ। ब्राह्मण संस्कृति में जन्मना चलने वाली व्यवस्था के ठीक विपरीत बौद्ध-श्रमण संस्कृति में कर्म को प्रधानता दी गई। इस कारण समाज के उपेक्षित वर्णों के विद्वानों ने बौद्ध धर्माचार्यों का स्थान पाया।^[6]

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहितों, उपदेशकों की पहली पीढ़ी और उनके प्रमुख शिष्यों को ही 'सिद्ध' नाम से अभिहित

किया गया होगा। स्पष्ट साक्ष्यों के अभाव में असलियत को प्राथमिकता देने के बजाय इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि देश और देश से बाहर निरंतर भ्रमणशील रहने वाले सिद्धों ने तत्कालीन कालखंड में जनभाषा को माध्यम बनाकर आम जनता को सही रास्ता दिखाने का कार्य किया है, साथ ही तत्कालीन प्रकीर्ण साहित्य पर अपना सशक्त प्रभाव डाला है। सरहपा से लेकर नरोपा और उनके शिष्य कुसूली की रचनाओं में जनभाषा का जो स्वरूप मिलता है, वह आदिकालीन हिंदी के इतना निकट का है कि उसे हिंदी की उत्पत्ति की आरंभिक अवस्था कहना अन्यथा न होगा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन से पहले किसी भी विद्वान ने हिंदी की इन आदिकालीन रचनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया।

हिंदी साहित्येतिहास लेखन का व्यवस्थित, क्रमबद्ध और प्रामाणिक कार्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने किया। उन्होंने सिद्धों के साथ ही जैनों की रचनाओं को असाहित्यिक और धार्मिक मानते हुए हिंदी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया। उन्होंने पृथ्वीराज रासो को हिंदी का पहला महाकाव्य घोषित करते हुए वीरगाथाकाल से ही हिंदी की शुरुआत मान ली। राहुल सांकृत्यायन द्वारा खोजा गया सिद्ध-साहित्य हिंदी-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी घटना बनकर आया। इस संदर्भ में प्रो. नागेंद्रनाथ उपाध्याय लिखते हैं कि- "उनके पूर्व शुक्लजी के अनुसार, हिंदी कविता का आरंभ विक्रमी संवत् 1050 से माना जाता था। उन्होंने आदि सिद्ध सरह को हिंदी का प्रथम कवि घोषित कर उनकी कविता को हिंदी की प्राचीनतम कविता कहा। उनका समय 770-825 ईस्वी के बीच माना। इस प्रकार हिंदी कविता का आरंभ राहुलजी के अनुसार आठवीं शताब्दी में हुआ।^[7] आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक विस्तृत विपुल साहित्यराशि राहुलजी के अनथक प्रयासों से ही हिंदी साहित्यजगत के संज्ञान में आ सकी। यद्यपि धर्मवीर भारती प्रभृति कतिपय विद्वानों ने राहुलजी की स्थापनाओं और मान्यताओं की आलोचना की है, तथापि सिद्ध-साहित्य को इस प्रकार नहीं छोड़ा जा सकता। राहुल जी ने आलोचनाओं के विरुद्ध अपने तर्क भी दिए हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक- 'पुरातत्त्व निबंधावलि' में कई स्थानों पर सशक्त तर्क दिए हैं। उनका मत है कि सिद्ध के लिए कवि होना अनिवार्य था, ताकि वह सुगम, सरस और सरल रीति से अपनी बात आम जनता तक पहुँचा सके। इसके साथ ही कई सिद्ध संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान और ग्रंथकार भी थे। विद्वता के साथ ही देशी भाषा में कविता करना इनका गुण था इसी कारण वे विज्ञ से लेकर अल्पज्ञ और अनपढ़ तक अपनी बात पहुँचाने में सक्षम थे।^[8] सिद्ध-साहित्य, राहुलजी के तर्क और हिंदी के भक्ति साहित्य को अगर एक क्रम में रखकर देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में चलने वाली परंपरा ने साहित्य से ही रस संचय किया है।

डॉ० रमाकान्त पाठक के विभिन्न काव्य-ग्रंथों में भगवान् बुद्ध का या उनके अनुयायी पात्रों का जो स्वरूप उभरकर आया है, वह निश्चित रूप से उदात्त और महत्त्वपूर्ण है। डॉ० ग्रियर्सन ने भगवान् बुद्ध को 'लोकनायक' के रूप में स्मरण कर उनके उसी वास्तविक स्वरूप को रेखांकित किया है एवं वर्तमान विश्व, जो हिंसा, छल, कपट, द्वेष, शत्रुता आदि दुष्प्रवृत्तियों से भरता जा रहा है, की समस्याओं और संकटों को दूर करने में भगवान् बुद्ध का वही स्वरूप सहायक हो सकता है।^[9]

वर्तमान विश्व की परिस्थितियों और समस्याओं का अवलोकन कर डॉ० पाठक ने भी उनसे सम्बन्धित हिन्दी काव्यों की सर्जना कर सार्वकालिक और सार्वदेशिक महत्त्व के अपने बहुमूल्य विचार उपस्थापित किये हैं। यूँ तो हिन्दी में आदिकालीन बौद्ध-सिद्धों के बहुत काल बाद श्रीविश्वम्भर सहाय 'व्याकुल' कृत 'बुद्धदेव' (1920 ई०), आनन्द प्रसाद खत्री-कृत 'गौतम बुद्ध' (1922 ई०), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार रचित 'अशोक' (1935 ई०), कैलाशनाथ भटनागर-लिखित 'कुपाल' (1937), जयशंकर प्रसाद कृ

त-‘अजातशत्रु’ (1922), चन्द्रराज भंडारी कृत ‘अशोक’ एवं ‘सिद्धार्थ कुमार’, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द कृत ‘गौतमनंद’, रामवृक्ष बेनीपुरी- रचित ‘अम्बपाली’, ‘तथागत’, ‘संघमित्र’, ‘नेत्रदान’ और ‘सिंहलविजय’, डॉ० रामकुमार वर्मा-लिखित ‘कुपाल की आँखें-जैसे-नाटक/एकांकी, सियारामशरण गुप्त-लिखित चरितकाव्य ‘अमृतपुत्र’, मैथिलीशरण गुप्त-लिखित ‘यशोधरा’ और ‘कुपाल-गीत’ एवं भवानी प्रसाद मिश्र रचित ‘कालजयी’ (खण्डकाव्य)-जैसे काव्य-ग्रन्थ, सियारामशरण गुप्त की कृति ‘बुद्धवचन’ और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचना ‘बुद्धचरित’ शीर्षक दो अनूदित-कृतियाँ तथा म० पं० राहुल सांकु त्यायन-रचित ‘महामानव बुद्ध’ (1956) आदि अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं, किन्तु डॉ० रमाकान्त पाठक ने अकेले ‘अंगुलिमाल’, ‘यशोधरा’, ‘आम्रपाली’, ‘बिंबिसार’, ‘तथागत’, ‘पूर्णिमा’ और ‘राजगृह’-जैसे उच्च कोटि के बौद्ध-काव्य-ग्रंथों एवं ‘राजकुमार सिद्धार्थ’ शीर्षक नाटक की सर्जना कर हिन्दी के बौद्ध-साहित्य-रचयिताओं के बीच सर्वाधिक उच्च स्थान सुरक्षित कर लिया है।^[10]

डॉ० पाठक कवि के साथ-साथ शास्त्राविद्, राजनीतिविद् एवं उच्चकोटि के चिंतक भी थे। इसलिए इनकी रचनाओं में, उनमें वर्णित भावों और भाषाओं में अलग ही ओज और सौन्दर्य दृष्टिगत होते हैं। उनकी बौद्ध-रचनाओं विशेषतः बौद्ध-काव्यों की महत्ता एवं उदात्तता का विवेचन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की सर्वाधिक मुख्य प्रतिज्ञा है।^[11]

भक्तिकालीन कवियों में विद्वता का अभाव नहीं था, किन्तु गूढ़ ग्रंथों का प्रणयन करने के बजाय इनकी रचनाएँ ऐसी थीं, जो आज भी अपढ़ से पढ़े-लिखों तक व्याप्त हैं। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि जिस संस्कृति में, जिस साहित्य में हिंदी की जड़ें जमी हुई हैं, उसके एक अंश से साक्षात्कार कराने का कार्य राहुल जी ने किया। आज भी इस क्षेत्र में अपार संभावनाएँ हैं। श्रमण संस्कृति के पूज्य धार्मिक ग्रंथों में कई सूत्र छिपे हो सकते हैं, जो नई स्थापनाओं और सिद्धांतों के आधार बन सकते हैं।

सन्दर्भ-

1. सर्वसाहा-डॉ० रमाकान्त पाठक, भारती भवन, गोविन्द मित्रा रोड, पटना-द्वितीय संस्करण-1989
2. संस्कृति के चार अध्याय-रामधारी सिंह दिनकर, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1956
3. राजकुमार सिद्धार्थ- डॉ० रमाकान्त पाठक, नव भारत प्रेस, लहेरियासराय, दरभंगा, प्रथम संस्करण-1973
4. हिंदी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1961, पृ. 5-6
5. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.- 100
6. भारतीय साहित्य, किताबमहल, इलाहाबाद, 1968, पृ.- 303-304
7. महापंडित राहुल, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994, पृ.- 122
8. पुरातत्त्व निबंधावलि, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, 1937, पृ.- 275-291
9. पूर्णिमा-डॉ० रमाकान्त पाठक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-1981
10. आम्रपाली-डॉ० रमाकान्त पाठक, मोतीलाल बनारसीदास, अशोक राजपथ, पटना, प्रथम संस्करण-1981
11. यशोधरा- डॉ० रमाकान्त पाठक, मोतीलाल बनारसीदास, अशोक राजपथ, पटना, प्रथम संस्करण-1981